International Journal of Creative Research Thoughts
Volume 1, Issue.11, November 2013 *ISSN:-2320-2882*

ORIGINAL ARTICLE

दलित समुदाय (विशेषतः वाल्मीकि समुदाय) एवं शिक्षा

कलीराम इवने
शोधार्थी
समाजशास्त्र एवं समाज कार्य विभाग बरकउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)

डॉ श्रीमति सरला चतुर्वेदी
निर्देशिका शा. रामानंद संस्कृत महाविद्यालय गुफा मंदिर लालघाटी, भोपाल

सार :

शिक्षा सामाजिक बदलाव एवं गतिशीलता की गति, को प्रभावित करती है, दूसरी ओर शिक्षा की प्रकृति, विस्तार एवं गुणक्ता दोनों स्तर पर सामाजिक बदलाव और गतिशीलता से प्रभावित होती है। शिक्षा न केवल बदलाव का एक सशक्त माध्यम ही बनती है बल्कि उस बदलाव की दशा एवं दिशा भी निर्धारित करती है, उसके विकल्प को तय करती है।शिक्षा और समाज में अन्योन्याश्रित संबन्ध है।अनुसूचित जातियों में सर्वाधिक पिछड़े वाल्मीकि भारतीय समाज में सदियों से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण का शिकार हो रहे हैं। यानि देश के बहुसंख्यक हिंदू समाज की वर्ण–व्यवस्था में सबसे निचले पायदान और देश की सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था के हाशिये पर खड़ा समुदाय यदि कोई कहा जा सकता है तो वह है 'वाल्मीकि समुदाय'। अपने जीविकोपार्जन के लिए मुख्य रूप से 'मैला' ढोने, शौचालय, घर तथा नाली साफ करने, सड़क पर झाड़ू लगाने से लेकर इसी तरह के (अस्वच्छ व अस्पृश्य) कार्य में लगे रहने के कारण इस जाति के लोग हमेशा से समाज में घृणा और उपेक्षा का दंश झेलते रहे हैं और आज भी झेल रहे हैं।

प्रस्तावना :

'... यह समाज और सरकार हमारे लिए और क्या कर सकती है; गली/सड़क पर झाड़ू लगाने का डंड़ा उसने बड़ा कर दिया है, मल को रगड़ने–झाड़ने के लिए एल्यूमिनियम का टुकड़ा अब हमारे हाथ में है, मैला ढ़ोने के लिए 'टोकरी' की जगह अब हमें ट्रॉली मिल गई है, जिस पर पहिए लगा दिए गए हैं; हमें 'वाल्मिकी' से 'ऊँची जात' का तो बना नहीं सकती!(दौलत सिंह, वार्ड पार्षद, हजूरी दरवाजा, अलवर शहर से अनौपचारिक बातचीत के क्रम में) वक्तव्य

केवल इस समुदाय के भाव को नहीं दिखाता वरन् किसी भी लोकतांत्रिक, समाज के उस चेहरे को दिखाता है, जो मानवीय तथा संवेदनशील होने का दावा करता है, साथ ही यह प्रतिक्रिया इस समाज के आधुनिक तथा बेहतर होने के दावे पर भी सवालिया निशान लगता है। 21वीं सदी का समाज, अत्याधुनिक समाज की परिभाषा पा चुका है पर इसके बावजूद, इस समाज में कुछ ऐसी (गैर–बराबरी, अस्पृश्यता, असवंदेनशीलता, अमानवीयता, शोषण आदि) विसंगतियाँ विद्यमान हैं। जो समाज पर नकारात्मक प्रभाव लगातार डालते हैं।

झा और झींगरन (2002 : 96) पाते हैं कि *''दलित बच्चे अनावश्यक रूप से शारीरिक एवं मानसिक यातना झेलते हैं। शिक्षक दलित बच्चों में या उनकी परिस्थितियों में सकारात्मक बदलाव को लेकर कोई खास रुचि नहीं दिखाते हैं, उनके अनुसार 'दलित' अकर्मण्य हैं।''*

नस्ल या जाति या वर्ग आधारित भेदभाव समूची मानव सभ्यता का सर्वव्यापी किंतु दुःखद पक्ष है, जो विश्व के सभी भागों में विभिन्न प्रकारों एवं स्वरूपों में विद्यमान है। जाति–व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक गतिशीलता एक महत्त्वूपर्ण प्रश्न है। भारत में, या अस्पृश्य ,अछूतों के वर्ग लिए 'दलित' एक नया नामकरण है जो कि सदियों से इस समाज पर हो रहे, आर्थिक ,सामाजिक,, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक आदि क्षेत्रों में अमानवीय अत्याचारों को प्रतिबिम्बित करने के लिए पर्याप्त क्षमता रखता है। जन्म आधारित भेदभाव, मानव जाति के एक बड़े हिस्से पर हिंसात्मक प्रभाव डालता है जो प्रायः नागरिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं सामाजिक अधिकारों को तय करता है। जन्म से निर्धारित सामाजिक हैसियत में दक्षता, योग्यता और उपलब्धि के कारण परिवर्तन आता है। तथाकथित 'उच्च वर्ण' तथा आज की संवैधानिक शब्दावली में वर्णित अनुसूचित जातियों/जनजातियों की सामाजिक स्थिति प्रायः कठोरता के साथ जन्म से ही निर्धारित होती थी। क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण की स्थिति में परिवर्तन भी होता रहता था। ऐतिहासिक दृष्टान्तों, अध्ययनों से यह बात स्पष्ट होती है कि अपनी क्षमता और शक्ति के आधार पर अनेक जनजातियों, वैश्य तथा क्षत्रियों ने सामाजिक हैसियत में बदलाव किया। अभिप्राय यह है कि जाति व्यवस्था जड़ या बेजान नहीं है।

अम्बेडकर (राजकिशोर : जाति का जहर) के अनुसार जाति भेद वस्तुतः श्रम का नहीं, श्रमिकों का विभाजन है। यही कारण है कि यहाँ नीचे गिराई गई जाति का मनुष्य ऊपरवाली जाति का का पेशा नहीं कर सकता। यहाँ 'भंगी' हलवाई का काम नहीं कर सकता, परचूनी नहीं कर सकता, चाय और पान की दुकान नहीं खोल सकता, पुरोहित नहीं बन सकता। ऐसा कोई सामाजिक कार्य नहीं जिसमें भंगी से ब्राह्माण तक समान भाव से लग सकें। वस्तुतः अम्बेडकर का श्रमिक विभाजन का यह विचार समाज में व्याप्त, एक विसंगति का ही विस्तार है, जिसे हम रोज–मर्रा के जीवन में व्यवहृत होता देखते हैं। इसकी पृष्ठभूमि में यदि सूक्ष्म दृष्टिपात किया जाए तो यह विभाजन अपने मौलिक एवं वास्तविक स्वरूप में 'श्रम' का नहीं बल्कि व्यक्तियों का विभाजन है जिसका आधार बहुत हद तक सामाजिक–धार्मिक है तथा अपने अंतिम विश्लेषण में 'शोषक एवं शोषित' की चारित्रिक विशेषताओं का स्पष्टीकरण बनता है।

महात्मा गाँधी (प्रभु : 1964) 'हरिजन' की विपन्नता का कारण समाज द्वारा निर्मित अन्यायपूर्ण सामाजिक संरचना में पाते हैं। शोषक तथा शोषित दोनों ही वर्गों का व्यक्तित्व दो भागों में बँटा हुआ है। जिसमें कुछ हद तक मुख्य विभाजक 'ज्ञान' तथा 'तर्क' बनते हैं।

डॉ. अम्बेडकर ने 18 अक्टूबर 1925 में मुम्बई की एक दलित सभा में दिये गए अपने वक्तव्य में इस बात को जोरदार तरीके से उठाया *''... मैं आपको सलाह देता हूँ कि जो थोड़ी बहुत राजनीतिक शक्ति आपके हाथों में आ रही है आप उसका लाभ उठाएँ, यदि आप ऐसा नहीं करते तो आपके दुःखों का अंत नहीं हो पाएगा और दासता जिसके विरुद्ध आप संघर्ष कर रहे हैं, आपको पुनः दबा सकती है*।अतः आवश्यकता 'दलित' शब्द को समझने की है न कि उसे पारिभाषित करने की। लोकप्रिय और अकादमिक दोनों अर्थों में 'दलित' पद हरिजन, अछूत, दमित, अनुसूचित जाति और अन्य अप्रचलित व्याख्यात्मक पद के रूप में क्रियाशील रहा है। यद्यपि 'दलित' अपने सामाजिक–राजनैतिक तथा संवैधानिक परिप्रेक्ष्य में एक सुस्पष्ट परिभाषित 'श्रेणीयन' की अधिकृत स्वीकार्यता पा चुका है तथापि इस समुदाय को लगातार हाशिए पर धकेलने से बचाने के उपक्रम में कोई महत्वपूर्ण एवं सार्थक परिवर्तन अपेक्षाकृत आनुपातिक रूप से परिलक्षित नहीं हो पा रहा है। आधुनिकता के इस आइने में 'दलित' पीछे छूटता नजर आता है।

रामशरण जोशी (1996) ने अपनी पुस्तक 'आदिवासी समाज और शिक्षा' में विस्थापित आदिवासियों की समस्याओं को स्वर देने का प्रयास किया है। ये आदिवासी वे हैं जिन्हें औद्योगिकीकरण ने भूमि से विस्थापित कर भूमिहीन श्रमिक, सर्वहारा, प्रवासी बना दिया है। विस्थापन के कारण, आदिवासियों में बढ़ती अपराध प्रवृत्ति समस्या को गहरा देती है। जोशी अपने अध्ययन में पाते हैं कि *अपरंपरागत तरीकों' से दी जाने वाली 'शिक्षा' आदिवासियों की समस्याओं को हल कर सकती है साथ ही इनकी प्रस्थिति को भी सुधार सकती है।* जोशी का यह विचार एक हद तक पॉलो फेयरे के उत्पीड़ितों के शिक्षा शास्त्रा तथा उसके प्रमुख औजार समीक्षाई चेतना का ही अग्रसरण है। दूबे और माथुर (1972)इस बात को प्रमुख रूप से इंगित करते है कि *अनुसूचित जातियों को मिलने वाली सरकारी सुविधाएं या उनका वितरण प्रायः असमान ही है।* मसला केवल सुविधाएं प्राप्त करने का नहीं है, तथ्य यह है कि उन सुविधाओं तक उनकी पहुंच कितनी है। अतीत पर दृष्टि डाले तो पाते हैं कि 1962 में मैसूर के पूर्व–विश्व विद्यालयी पाठ्यक्रम में नामांकित 40,000 बच्चों में से 961 छात्रा/छात्राा अनुसूचित जाति से थे।

शुक्ला (1969)23 का मत है कि *जब तक हैसियत को भूमि स्वामित्व, आय इत्यादि के आधार पर मापा जाएगा, तब तक न तो असानी से शिक्षा का व्यापक प्रसार हो पाएगा और न ही यह परिवर्तन का एक प्रभावी साधन बनेगी।* अनुसूचित जातियों की प्रगति, विकास आदि को लेकर हुए विभिन्न अध्ययनों के सर्वेक्षण से यह बात स्पष्ट होती है कि ''इस समुदाय की उन्नति तथा विकास को तुलनात्मक रूप से संतोषजनक नही माना जा सकता'' भारत सरकार के अधिनियम 1935, में पहली बार तथाकथित निम्न जातियों को 'अस्पृश्य' श्रेणी से बाहर निकलने का आधिकारिक प्रयास करते हुए इन्हें अनुसूचित जातियों की संज्ञा दी गई।

सरकार के नीति–निर्देशक सिद्धान्तों के तहत संवैधानिक अनुच्छेद–46 में स्पष्ट कहा गया है कि *राज्य जिसमें अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की अभिवृत्ति हो।* संविधान में विशेष सुरक्षा देने के पीछे, निम्न तथा पिछड़े वर्गों को ऊपर उठाना उद्देश्य था।आज भी दलित गांव या मुख्य आबादी से बाहर रह रहे हैं। सवर्णों के साथ बैठकर चाय पीना, एक साथ काम करना, साथ रहना, आदि ऊपरी तौर पर आया बदलाव है असल बदलाव 'मानसिकता' का है जो एक दलित को 'दलित' होने का हर पल अहसास कराती है। देश के शीर्षासन पर 'दलित' को बैठा देने मात्रा से ही सम्पूर्ण दलितों की मुख्यधारा में भागीदारी सुनिश्चित नहीं हो जाती है। आजादी के बाद तीव्रता से इन जातियों के विकास के लिए संवैधानिक प्रावधान किए गए।

नई शिक्षा नीति (1986) में कहा गया है – 'समानता के उद्देश्य को साकार बनाने के लिए सभी को शिक्षा का समान अवसर उपलब्ध करवाना ही पर्याप्त नहीं होगा, ऐसी व्यवस्था होना भी जरूरी है जिसमें सभी को शिक्षा में सफलता प्राप्त करने के समान अवसर मिले।... वास्तव में राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था का उद्देश्य है कि सामाजिक माहौल और जन्म के संयोग से उत्पन्न पूर्वाग्रह और कुंठाएं दूर हों।' भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत संस्करण ने शैक्षिक अवसरों की उपलब्धता को अपने ही ढंग से प्रभावित किया है। ब्रिटिश काल में 'अधोमुखी निस्पंदन के सिद्धान्त' ने अभिजात वर्ग को अंग्रेजी माध्यम से शिक्षित करने पर जोर दिया तथा जनता की शिक्षा की उपेक्षा की। परिणामतः गरीब व निचले वर्ग शिक्षा से वंचित रहे। और इस प्रकार शिक्षा को उच्च जातियों का विशेषाधिकार ठहराने वाली परंपरागत जाति, प्रथा और अभिजात वर्ग को शिक्षा देने की ब्रिटिश नीति ने एक दूसरे को बल पहुँचाते हुए भारत में एक अत्यधिक असमान शिक्षा व्यवस्था को जन्म दिया। और इसके परिणाम स्वरूप 'ऐसी अनेक अनुसूचित जातियाँ हैं जिनमें साक्षरता दर शून्य हैं'

उपसंहार :

किसी भी सामाजिक–सांस्कृतिक – राजनीतिक आयामों में विस्तारित हो रहा समाज शिक्षा से उसमें संचरण होने की उम्मीद करता है। शिक्षा और सामाजिक गतिशीलता के आपसी संबंधों की प्रकृति को समझने की दिशा में इस अध्ययन को दलित समुदाय (विशेषतः वाल्मीकि समुदाय) पर केंद्रित किया गया है। इस अध्ययन में शिक्षा के मायने को एक विशेष संस्थायी अर्थ में लिया गया है। अर्थात् केवल स्कूल के जरिए दी जाने वाली शिक्षा को ही लिया गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

- नीलसन, जे.पी. (1972). 'द इम्पैक्ट ऑफ एजुकेशन आन द स्ट्रेटीफिकेशन ऑफ इंडिया,' सोशल रिसर्च (ज.), 15(2), 51–52

- जोशी, आर.एस., (1996): 'आदिवासी समाज और शिक्षा (लिव्यांतरण अरूण प्रकाश), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली

- दुबे एस.एन. और उषा माथुर (1972). 'वेलफेयर प्रोग्राम फार एस. सीज़: कंटेंट एंड एडमिनिस्ट्रेशन' इ.पी.डब्ल्यू, वा. टप्प्, नं. 4, जनवरी 22, 165–76

- वानखेड़े सी.जी., (1999), 'सोशल माबिलिटी एंड सेड्यूल कास्टः रिसिडिंग हॉरिजन' रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 27–28

- अग्रवाल, यश (1994). अनुसूचित जातियों में साक्षरता की प्रवृत्तियाँ, परिप्रेक्ष्य वर्ष 1, अंक 2.